IMPACT FACTOR 5.397 (SJIF USA)

BIHAR SHODH SAMAAGAM

Multidisciplinary, Multi-Lingual, Peer Reviewed /Refereed Open Access Journal
Vol. 3, Issue 4, October-December, 2025
Available online : https://www.biharshodhsamaagam.com/

ISSN : 3048-6971

दलित अस्मिताः बहिष्कृत जीवन का सामाजिक चिंतन-बोध

डॉ. नीरज
असिस्टेंट प्रोफेसर हंसराज कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय

मानव सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास में दलित व्यक्ति और समाज दोनों की स्थिति सदियों से ही अपमानजनक और उपेक्षित रही है। इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि लगभग दलित जातियों की जातिसूचक संज्ञाओं का समाज के शेष लोगों के बीच गालियों की तरह प्रयोग होता रहा है। इतिहास भी साक्षी है कि दलित 'मनुष्य अस्मिताओं के सहअस्तित्व' में नहीं अपितु अस्पृश्य, अछूत एवं बहिष्कृत होकर जीवन जीने के लिए अभिशप्त रहे हैं। यही वह वर्ग है जिसकी परछाई पड़ जाने मात्र से ही अभिजात्य वर्ग के लोग अपवित्र हो जाया करते थे, संस्कृत बोलने पर जिनकी जिह्वा काट दी जाती थी। मंदिर प्रवेश को लेकर तो आज तक बखेड़ा किया जा रहा है। आधुनिक काल आते-आते समता, स्वतंत्रता, बंधुता एवं न्याय जैसी मानवीय मूल्यों का ज्ञान हो जाने के बावजूद व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के स्तर पर युगांतकारी परिवर्तन तो हुआ परंतु शोषित एवं उपेक्षित 'दलितों' से पशुओं से भी बदतर व्यवहार निरंतर जारी रहा। अपमानित और वंचित मनुष्य-अस्मिता के इसी धरातल पर विकसित दलित-विमर्श सामाजिक, राजनैतिक एवं ऐतिहासिक संदर्भों से जुड़े समकालीन परिदृश्य की सबसे ऊर्जावान अवधारणा है। आधुनिक मूल्यों, सामाजिक मान्यताओं, संवैधानिक अधिकारों एवं जनतांत्रिक संरचनाओं के संघर्ष से विकसित इस विमर्श के केन्द्र में "वे सारे सवाल हैं जिनका संबंध भेदभाव से है। चाहे यह भेदभाव जाति के आधार पर हो या नस्ल, लिंग या फिर धर्म के आधार पर ही क्यों न हो।""

कोशीय अर्थ में 'दलित' शब्द का व्यापक संदर्भ सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक रूप से पिछड़े हुए निम्नवर्गीय एवं पद दलित समूह को अपने में समाहित जरूर करता है लेकिन इसका वास्तविक अर्थ उन जातियों के लिए प्रयुक्त होता है जिसे भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति का दर्जा दिया गया है। दलित आलोचक शरण कुमार लिंबाले सामाजिक रूप से शोषित लोगों के साथ साथ आर्थिक रूप से पिछड़े हुए लोगों को भी दलित में सम्मिलित करते लिखते हैं- "दलित केवल हरिजन और नवबौद्ध नहीं हैं। गाँव की सीमा के बाहर रहने वाली सभी अछूत जातियाँ, आदिवासी भूमिहीन खेत-मजदूर, श्रमिक, कष्टकारी जनता आर यायावर जातियाँ सभी की सभी दलित शब्द से व्याख्यायित होती है। दलित शब्द की व्याख्या में केवल अछूत जाति का उल्लेख करने से ही नहीं चलेगा। इसमें आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए लोगों का भी समावेश करना होगा।" दलित विचारकों का बहुत बड़ा वर्ग दलित शब्द की इस अवधारण से सहमत नहीं है। उनका मानना है कि एक गरीब सवर्णों का सामाजिक अपमान नहीं होता है। वह गरीबी से त्रस्त होते हुए भी समाज में उन विशेषाधिकारों का उपयोग करता है जो उसे जन्मना प्राप्त होता है। इसलिए दलित वही है जिसपर "अस्पृश्यता का नियम लागू हुआ है, जिसे गंदे और कठोर कार्य करने के लिए बाध्य किया गया है। जिसे शिक्षा ग्रहण करने और स्वतंत्र व्यवसाय करने से मना किया गया है और जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की, वही दलित है। और इसके अंतर्गत वहीं जातियाँ आती है जिसे अनुसूचित जातियाँ कहा जाता है।"" कार्य-प्रणाली की ऐतिहासिक आधारों का लेखा-जोखा देते हुए रमेश कुमार ने भी 'दलित चिंतन के सरोकार' में लिखा है "प्रारंभ के आर्य समाज से ही दास तथा शुद्र वर्ग दो वर्गों में विभाजित हो गया था। पहला अबहिष्कृत शूद्र या पिछड़ा वर्ग (बैकवर्ड क्लासेज जिसे खेती, पशुपालन और शिल्पकारों के कार्यों में रहना पड़ता था)।

दूसरा बहिष्कृत शूद्र था अस्पृश्य वर्ग (शिड्यूल्ड कास्ट) जिसे घृणास्पद साफ-सफाई और चर्मकारों के कार्य दिए जाते थे।"

मार्क्सवादी विचारकों ने समाज के दबे-कुचले, शोषित एवं निम्नवर्गों के लिए 'सर्वहारा' शब्द को तर्कसम्मत बनाने की कोशिश की, परंतु सामाजिक वंचना का मानदंड जाति को बताते हुए दलित-विमर्शकार आर्थिक विभाजन की इस अवधारणा से सहमत नहीं हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है "दलितों के अंतर्गत सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक शोषण का अंतर्भाव होता है। सर्वहारा केवल आर्थिक शोषण तक ही सीमित है। प्रत्येक दलित व्यक्ति सर्वहारा के अंतर्गत आ सकता है लेकिन प्रत्येक सर्वहारा को दलित कहने के लिए बाध्य नहीं हो सकते..... अर्थात सर्वहारा की सीमाओं में आर्थिक विषमता का शिकार वर्ग आता है जबकि दलित-विशेष तौर पर सामाजिक विषमता का शिकार होता है।" यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अस्पृश्यता यानी सामाजिक विषमता को छोड़कर शेष आधारों पर होने वाले भेदभाव का शिकार समाज का कोई भी वर्ग हो सकता है। सामाजिक वंचना को आधार बनाते हुए दलित के ही समानार्थी रूप में 'हरिजन' शब्द का प्रयोग भी हुआ है, परंतु दोनों के उद्देश्य में अंतर है। दलित की अवधारणा राजनीतिक न्याय की मांग से परिचालित है। हरिजन की अवधारणा सामाजिक संरचना में बदलाव की मांग करती है। दलित की अवधारणा सत्ता की संरचना में बदलाव के लिए संघर्षशील है। फिर सुमित सरकार की मानें तो इतिहास भी इस बात का गवाह है कि "हरिजन आंदोलन का जन्म ही दलित आंदोलन को दबाने के लिए हुआ था। लेकिन समय के प्रवाह में दलित आंदोलन ने हरिजन के सामाजिक, धार्मिक प्रवृति के मुद्दों को गौण साबित करते हुए राजनैतिक एवं आर्थिक प्रतिनिधित्व के सवालों पर अपने आंदोलन की बिसात तैयार की। गाँधीजी के आत्मशुद्धि के नारे के बदले अंबेडकर के आत्मसम्मान आंदोलन ने दलित, वंचित समाज में एक चिनगारी का काम किया और इसमें एक राजनैतिक चेतना पैदा की।"" 1980 में काशीराम द्वारा स्थापित 'बामसेफ' (बैकवर्ड एंड माइनॉरटिज शिडूल्ड कास्ट एम्पलाई फेडरेशन) ने हरिजन और दलित के बदले 'बहुजन' शब्द दिया। कांचा इलैया ने शोषित, पीड़ित परंतु बहुसंख्यक आबादी की रचना करने के कारण दलित के लिए 'दलित बहुजन' शब्द को प्रस्तावित किया है। उनके अनुसार निम्न जातियाँ या हरिजन जैसे शब्दों का प्रयोग 'उत्पादक जातियों के अर्थ को दबा देता है।""

अपने-अपने समय में दास, अस्पृश्य, शूद्र या बहिष्कृत जैसे शब्दों के प्रयोग दलित के ही विभिन्न अर्थों में होते रहे हैं। भारतीय धर्म-व्यवस्था में भी दलितों को चारों वर्णों में सबसे निम्नवर्ग में रखा गया था तथा समाज में दलितों की भूमिका शेष सभी वर्गों की सेवा के अलावा कुछ भी नहीं थी। फिर साहित्य के नाम पर आरंभ में अधिकांशतः वही साहित्य उपलब्ध होता है जिसे गैर दलितों ने दलितों के विषय में लिखा है। ऐसे में यह सवाल उठना लाजमी है कि दलित साहित्य क्या है? दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य या दलितों के विषय में लिखा गया साहित्य। शरण कुमार लिंबाले ने लिखा है "जो कलाकृति अधिकाधिक दलित चेतना जागृत करेगी वह कलाकृति सर्वश्रेष्ठ होगी।" जाहिर है कि कोई जन्मना दलित भी अगर लिखता है तो उसके लिखने मात्र से वह दलित-लेखन और उसकी रचना दलित साहित्य नहीं सिद्ध हो जाएगी। इसके लिए जरूरी है कि उस लेखक और रचना दोनों में दलित चेतना अनिवार्यतः हो। ओमप्रकाश वाल्मीकि के मतानुसार "दलित की व्यथा, दुख, पीड़ा, शोषण का विवरण देना या बखान करना ही दलित-चेतना नहीं है। या दलित पीड़ा का भावुक और अश्रु बिगलित वर्णन, जो मौलिक चेतना से विहीन हो चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है जो दलितों के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक भूमिका की छवि के तिलिस्म को तोड़ती है। वह है दलित चेतना। मतलब मानवीय अधिकारों से वंचित, सामाजिक तौर पर जिसे नकारा गया हो उसकी चेतना यानी दलित चेतना।"

दलित एवं गैर दलित विचारकों के बीच दलित साहित्य के स्वरूप स्पष्टीकरण को लेकर पर्याप्त मतभिन्नता देखने को मिलती है। दलित चिंतक जन्मना दलित रचनाकारों द्वारा दलितों के विषय में किए गए लेखन को दलित साहित्य मानते हैं। बकौल धर्मवीर "दलित साहित्य वह है जिसे दलित लेखक लिखता है। वह श्रेष्ठ और कम श्रेष्ठ साहित्य लिख सकता है, लेकिन शर्त यह है कि गैर दलित लेखक कैसा भी दलित साहित्य नहीं लिख सकता है। दलित साहित्य के मूल्यांकन की मनाही नहीं है। समीक्षक यह निर्णय दे सकता है कि कौन-सी रचना दलित-साहित्य की श्रेष्ठ रचना है। लेकिन यह अनुमति नहीं दी जा सकती कि किसी गैर दलित लेखक की रचना को दलित साहित्य की रचना मान लिया जाए।" यहाँ मूल मुद्दा दलित के रूप में भोगे गए जीवन की विशिष्ट जीवनानुभूति यानी स्वानुभूति से संदर्भित है। इसमें कोई शक नहीं की दलितों द्वारा भोगा हुआ सच उन्हें ज्यादा प्रामाणिक बनाता है, परंतु नारी ही नारी की पीड़ा, हत्यारे ही हत्यारा को पीड़ा या बच्चा ही बच्चों की अनुभूतियों को अभिव्यक्त कर सकता हैं, ऐसा मानने से गलत काव्य-परंपरा के विकास को भी खारिज नहीं किया जा सकता है। गैर दलित लेखकों ने साहित्य में परकाया प्रवेश की शक्ति के आधार पर स्वानुभूति जैस मुद्दों का खंडन करने की कोशिश की है। काशीनाथ सिंह ने तो यहाँ तक कहा है कि घोड़ा पर लिखने के लिए घोड़ा होना जरूरी नहीं हैं। परंतु दलित विचारक ओमप्रकाश वाल्मीकि काशीनाथ सिंह के इस विचार का कड़ा प्रतिरोध करते लिखते हैं "घोड़े को देखकर उसके बाह्य अंगों, उसकी दुलकी चाल उसके पुट्ठों, उसकी हिनहिनाहट पर ही लिखेंगे। लेकिन दिन का थका हारा जब अस्तबल में भूखा प्यासा, खूंटे से बंधा होगा, इसे आप कैसे समझ पाएँगे? मालिक का कौन-सा रूप और चेहरा उसकी कल्पना में होगा इसे सिर्फ घोड़ा ही जानता है।" दरअसल दलित-विमर्श में सदियों से शोषित एवं अस्पृश्य लोगों की जिजीविषा एवं मुक्ति की छटपटाहट की कामना मौजूद है। दलित जीवन की पीड़ा की जैसी अनुभूति एक दलित को होती है वैसी अनुभूति एक सवर्ण को नहीं हो सकती है। इसलिए दलितों द्वारा दलितों के विषय में लिखे गए साहित्य को ही दलित साहित्य की संज्ञा देना उचित होगा।

दलित साहित्य किसी विशिष्ट जाति या व्यक्ति का समाज के विरूद्ध नहीं बल्कि 'स्व' की खोज में निकले हुए पूरे शोषित समुदाय का स्थापित परंपराओं से विद्रोह एवं अपने अस्तित्व की स्थापना का मानवीय प्रयास है। दलित-अस्मिता 'मैं कौन हूँ', 'मेरी पहचान क्या है' जैसे प्रश्नों से बहुत गहराई तक जुड़ा हुआ है। इन्हीं सवालों से दलित रचनाशीलता को ऊर्जा एवं अनेक आयाम मिलते हैं। वंचित और नकारे गए इस पूरे दलित समुदाय का विद्रोह उस समाज के विरूद्ध है जिसमें सदियों से इनसे पशुवत् व्यवहार किया गया है। परंतु दलित-विमर्श के इस प्रसंग में यह विचित्र विरोधाभास दिखता है कि दलित चिंतन को जब वर्गवादी विचार यानी आर्थिक आधार पर परिभाषित किया जाता है तब वह अपनी समस्या को आर्थिक से अधिक सामाजिक विषमता से जोड़ता है। फिर सामाजिक वंचना के आधार पर 'हरिजन' के दायरे में व्याख्यायित किया जाता है तब उसे सामाजिक एवं राजनीतिक संरचना में परिवर्तन की मांग कं आधार पर नकारा जाता है। ऐसे में यह सवाल लाजिमी है कि दलित विमर्श अस्मिता की पहचान से जुड़ा प्रश्न है या यह भी सत्ता में हिस्सेदारी के प्रयास का राजनीति मात्र। इसलिए दलित-विमर्श से जुड़े अन्य पहलुओं का विश्लेषण करना भी दिलचस्प हागा।

स्वानुभूति और सहानुभूति का द्वन्द्व

दलित-विमर्श का सर्वमहत्वपूर्ण और बुनियादी मुद्दा स्वानुभूति और सहानुभूति का है। दरअसल दलितों ने एक दलित के रूप में जो भोगा है, जीवन की पीड़ा की जैसी अनुभूति उसे होती है वैसी गैर दलितों को नहीं हो सकती। इसलिए दलित लेखक स्वानुभूति को सबसे महत्वपूर्ण मानते हुए स्पष्ट करते हैं कि जन्मना दलित होना ही उनकी

स्थिति को दूसरों से भिन्न बनाता है। अर्थात् जो जन्म से दलित नहीं हैं वह वस्तुतः दलित भी नहीं है। क्योंकि उसे उस उत्पीड़न एवं अपमान से नहीं गुजरना पड़ता है जिसे जन्मना दलित। इसलिए दलित साहित्य से अभिप्राय जैसा कि कंवल भारती ने स्पष्ट किया है "उस साहित्य से है जिसमें दलितों ने स्वयं अपनी पीड़ा को रूपायित किया है। अपने जीवन संघर्ष में दलितों ने जिस यथार्थ को भोगा, दलित साहित्य उसी की अभिव्यक्ति का साहित्य है। यह कला के लिए कला का नहीं बल्कि जीवन का और जीवन की जीजिविषा का साहित्य है। इसलिए कहना न होगा कि वास्तव में दलितों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य की कोटि में आता हैं।"

गैर दलित विचारक स्वानुभूति वाले तर्क को सहानुभूति से खारिज करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि कोई भी साहित्य मानवीय सहानुभूति के बिना रचा नहीं जा सकता है। इनके अनुसार जिसे कभी कोई शोक नहीं हुआ है उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना असंभव है। पर यदि वह रचनाकार है तो अपनी कल्पनाशीलता से वह शोकाकुल व्यक्ति की आत्मा में प्रवेश करके उसे अनुभवगम्य बना सकता है। अनुभव एवं बोध के अंतर को बताते हुए विश्वनाथ त्रिपाठी तर्क देते हैं कि "जीवनानुभव हो भी तो बोध का होना आवश्यक नहीं। और बोध हो भी तो जरूरी नहीं की निजी अनुभव से बना हो। यह बोध या चेतना ज्यादा जरूरी चीज है। निराला ने विधवा पर कविता लिखी, खुद तो नहीं थे। प्रेमचंद ने होरी जैसा किसान गढ़ा। यह सब बोध से पैदा हुआ है। हाँ, बोध का भाव भी बनना चाहिए। जब यह भाव बनता है तब साहित्य की अंतर्वस्तु निर्मित होती है।" इसमें कोई शक नहीं कि साहित्य में परकाया प्रवेश की शक्ति होती है। आदिकवि वाल्मीकि से लेकर वर्तमान समय में सृजनरत रचनाकारों में इसे महसूस किया जा सकता है। परंतु सवर्ण लेखक सहानुभूतिवश दलितों के प्रति सवर्णों के विवेक को झकझोरता तो है लेकिन आगे बढ़कर उस संस्थान को चुनौती देने से कतरा जाता है जो दलित दुर्दशा का मूल-स्रोत है। राजेन्द्र यादव ने भी लिखा है "दलित चेतना को जगाने में सहानुभूति पहला कदम है परंतु सहानुभूति का साहित्य स्वानुभूति के साहित्य का स्थान नहीं ले सकता है। क्योंकि सहानुभूति के पात्र विद्रोह नहीं करते। वे लाचारी और मजबूरी में जीते हैं।" इसलिए एक दलित ही दलितों की पीड़ा को बेहतर और वास्तविक रूप में अभिव्यक्त कर सकता है। यहाँ ज्योतिबा फूले का यह कथन भी सारपूर्ण एवं सार्थक लगने लगता है कि 'राख ही समझ सकती है कि जलने की पीड़ा क्या होती है?'

वर्ग बनाम वर्ण का सवाल

'स्वानुभूति और सहानुभूति' के बाद दलित वैचारिकी के अध्ययन की एक और प्रमुख समस्या वर्ग और वर्ण की समस्या है। वर्ग एक धारणा है जो आर्थिक आधारों पर अवलम्बित होता है, जबकि वर्ण की वास्तविकता का संबंध सामाजिक धरातल से होता है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में यह संभव है कि दलित समुदाय का व्यक्ति भी आर्थिक दृष्टि से उच्च वर्ग में शामिल हो सकता है परंतु सामाजिकता के स्तर पर वह निम्न होने को अभिशप्त होता है। इसलिए दलित सैद्धांतिकी के निर्माण में मार्क्सवादी विचारों के साथ इसके अंतर्द्वन्द्व को भी परखा जाता है। दलित साहित्य और मार्क्सवाद दोनों का एक ही लक्ष्य हैं- शोषणमुक्त समाज की स्थापना। परंतु मार्क्सवाद जहाँ आर्थिक विषमताओं को मिटाकर सामाजिक परिवर्तन की मांग करता है वहीं दलित-चेतना सामाजिक विषमता के रूप में होने वाले छुआछूत को महत्वपूर्ण मानता है। आर्थिक विकास होने पर व्यक्ति का रहन-सहन, जीवन-यापन के तौर तरीके बदल सकते हैं लेकिन धर्म व जातिवादी समाज की नजरों में वह रहता निम्न ही है। जनवरी 1920 को प्रकाशित दलित-पत्र 'मूक नायक' के प्रवेशांक में ही भीमराव अंबेडकर ने लिखा था "भारत अछूतों एवं असमानताओं का घर है। भारत को स्वतंत्र होने से पूर्व आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में समानता स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए। इसके बिना राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ होगा, उस ब्राहमण वर्ग के हाथ में सत्ता सौंपना जिसके कारण

अछूत वर्ग हिंदू होते हुए भी अपमानित, उपेक्षित और घृणित जीवन जी रहा है। यदि वही वर्ग सत्ता में आ जाएगा तो निश्चय ही अछूतों के जीवन में स्थायी अभिशाप कुंडली मारकर बैठ जाएगा।"

अंबेडकर का विचार था कि भारत में सारी सामाजिक गड़बड़ी की जड़ वर्णव्यवस्था है। हिंदुओं का गाँव एक प्रकार का उपनिवेशवाद है जो, अछूतों को यातना देने के लिए बना है। इसलिए वर्ण-व्यवस्था को समाप्त किए बिना न तो जातिवाद समाप्त हो सकता है न छुआछुत। 'जाति का विनाश' नामक अपने पुस्तक में अंबेडकर ने लिखा है- "वर्ग संघर्ष के लिए जाति का विनाश जरूरी है। जातियाँ मिटेंगी तो वर्ग बनेंगे। जाति व्यवस्था बनी रही तो वर्ग नहीं बन सकते। जाति-व्यवस्था को बनाए रखकर वर्ग-संघर्ष की बात बेमानी है।" अंबेडकरवादी दृष्टि को मानने के कारण दलित विमर्शकारों का भी मानना है कि दलितों की असली समस्या वर्ण और जाति की समस्या, समाज में उनके सम्मान और स्वीकृति की समस्या है। वर्ण, जाति के कारण ही दलित जन्मना ही तथाकथित उच्च वर्गों की घृणा, उपेक्षा और तिरस्कार के पात्र बनते हैं। यही उपेक्षा-बोध उनमें हीनता का भाव पैदा करता है जो उन्हें जीवन भर उबरने नहीं देता। ऐसे में देखा जाए तो दलितों की "छुआछुत का मूल गरीबी में न होकर गरीबी का मूल छुआछुत में है।"" इसलिए प्रश्न यह है कि वर्गीय ढाँचें को बिना तोड़े वर्णवादी व्यवस्था से मुक्ति कैसे मिलेगी। मार्क्सवादी विचारों पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए जयप्रकाश कर्दम लिखते हैं "दलित जहाँ जाति विहीन और वर्ग विहीन समाज की स्थापना के लिए संघर्षरत है, मार्क्सवादी वही पुराने केवल वर्ग-भेद मिटाने के अपने पोथीनिष्ठ सिद्धांतों पर अडिग। जाति-विरोध से उनका कोई लेना देना नहीं है। जब तक मार्क्सवादी चिंतक जाति की खिलाफत को अपना एजेंडा नहीं बनाते तब तक मार्क्सवादियों को दलितों का हितैषी कैसे स्वीकार किया जा सकता है।"""

वर्ण और जाति-भेद हिंदू-धर्म की सिर्फ आध्यात्मिक व्यवस्था ही नहीं बल्कि संपत्ति और उत्पादन के साधनों के भौतिक विवरण की व्यवस्था भी रही है। हालांकि वर्ण-व्यवस्था जिस तरह के समाज की पैदावार थी वह समाज अब उस रूप में मौजूद नहीं है, लेकिन इस अवधारणा को अपने हित में इस्तेमाल करने वाले अब भी मौजूद हैं। इसलिए दलित चिंतक तुलसीराम ब्राह्मणवाद के बदले ब्राह्मण को गाली देने को मानसिक विकृति मानते हुए दलित साहित्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य को परखते हुए लिखते हैं- "दलित साहित्य वर्ण-व्यवस्था के विरोध का साहित्य है। वर्ण व्यवस्था का विरोध जो भी करे ब्राह्मण करे या कोई भी करे वह दलित साहित्य का अभिन्न हिस्सा है।... अश्वघोष तो अयोध्या के ब्राह्मण थे पर उन्हें क्यों दलित साहित्य के अंतर्गत रखा जाता है। इसलिए दलित लेखन की परंपरा में रखा जाता है कि उन्होंने वर्ण व्यवस्था पर जोरदार हमला बोला था। सरहपा, राहुल को इसलिए कि उन्होंने वर्ण की जड़ पर चोट की।"" हालांकि सूचना और संचार की क्रांति ने जनतांत्रिक स्थितियाँ पैदा की है और अब तो दलितों में भी मध्यवर्ग का निर्माण हो रहा है जो एक ओर जन्मना दलित होने के बोध से छुटकारा पाना चाहता है तो दूसरी ओर दलित होने से सत्ता तंत्र में भागीदारी का लाभ भी हासिल करना चाहता है। उसकी सोच, आकांक्षा एवं दायित्व बोध काफी हद तक सवर्ण मध्यवर्ग की तरह ही है। यह भो कारण है कि जब तक दलित समाज हमदर्दी और सहानुभूति तक सीमित होता है तब ठीक माना जाता है परंतु ज्योंहि वे अधिकारों की मांग करते हैं त्यों ही घृणा और हिंसा का विषय बन जाते हैं। जाहिर है अब सवाल विषमता मुक्ति से खिसककर सत्ता पर नियंत्रण पर केन्द्रित हो रहा है। इसलिए सह-अस्तित्व के बदले भेद गहराता और तीव्र होता जा रहा है।

पारंपरिक भारतीय संस्कृति और दलित-चिंतन

यह भी माना जाता है कि दलित-चेतना गौरवशाली एवं परंपराशाली भारतीय संस्कृति को चुनौती देते हुए उपजा है। भारतीय संस्कृति असल में हिंदू संस्कृति का ही पर्याय है। इसलिए दलित-चिंतन की गंभीर समस्या दलितों के हिंदू

होने या न होने के अंतर्द्वन्द्व से भी जुड़ा हुआ है। दलित चिंतकों का मानना है कि भारतीय संस्कृति एवं उसके निर्माताओं के चिंतन में "सब कुछ है, यदि नहीं है तो दलित-अस्मिता का इतिहास एवं दलित मुक्ति के सवाल नहीं है।"" ऐसे में सवाल हिंदू होने या न होने का नहीं बल्कि शूद्र या अछूत होने का है। बकौल धर्मवीर "कोई हिंदू हो सकता है, लेकिन वह हिंदुओं में शूद्र या अछूत नहीं होना चाहेगा। अछूत होना भयावह है और यह कितना भयावह है इसे एक अछूत ही समझ सकता है।" इसलिए जयप्रकाश कर्दम पृथक सांस्कृतिक पहचान के लिए अलग साहित्य की मांग को अनापत्तिजनक मानते हुए लिखते हैं- "दलितों की संस्कृति न हिंदू संस्कृति है न इस्लाम संस्कृति, उनकी संस्कृति अलग है। उनकी परंपराएँ, विश्वास एवं मान्यताएँ अलग हैं। जब संस्कृति साहित्य का आधार है तब पृथक सांस्कृतिक पहचान रखने वाले दलितों का भी अलग साहित्य होना आपत्तिजनक क्यों लगना चाहिए?

समता, स्वतंत्रता एवं बंधुता जैसे मानवीय भावों के विकास हो जाने के बावजूद इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि दलित समाजों के साथ हिंदूओं का रिश्ता सह-अस्तित्व का न होकर शोषण, क्रूरता, हिंसा और छल-कपट का रहा है। दलितों की जीवन शैली, उनके लोकाचार, मूल्य, आदर्श एवं परंपराएँ हिंदुओं से विपरीत हैं। समाज के हाशिए पर पड़ी इस विशाल आबादी के रोजमर्रा के जीवन के ऐसे ही तमाम पहलुओं का सिंहावलोकन करते हुए काँचा इलैया ने 'मैं हिंदू क्यों नहीं हूँ' में साफ कहा है कि भारत की दलित बहुजन जातियाँ हिंदू धर्म की बर्बरता का जीवंत प्रमाण है। दलितों के 'समूचे जीवन में ऐसा कुछ भी नहीं है जो हिंदुओं से मिलता-जुलता है' को सिद्ध करते वे लिखते हं "हिंदू समझ दलित बहुजन जातियों के हितों के विरूद्ध है। दलित बहुजन सांस्कृतिक लोकाचार को बरबाद करके ही हिंदू मिथकशास्त्र की रचना की गई है।... ब्राह्मणवादी संस्कृति एक हिंसक और वर्चस्ववादी संस्कृति रही है। उसने दलित बहुजन उत्पादन ढाँचों, संस्कृति, अर्थतंत्र और उसके सकारात्मक राजनीतिक ढाँचों को बरबाद किया है।

दलित साहित्य और ग्रामीण साहित्य

दलित साहित्य का बहुत बड़ा भाग देहातों के चित्रण से भरा पड़ा है। इसलिए कुछ आलोचकों को दलित-साहित्य ग्रामीण साहित्य का ही हिस्सा लगता है। परंतु दलित साहित्य न ही ग्रामीण साहित्य का विस्तार है न ही ग्रामीण साहित्य, दलित साहित्य का पथप्रदर्शक। दरअसल गाँवों का चित्रण करने वाले रचनाकार भी हिंदू संस्कृति के अनुरूप ही 'दलितों की उपस्थिति' के बगैर ही ग्राम-समस्याओं पर लिखते रहे हैं। अंबेडकर ने ऐसे ही गाँवों को 'अछूतों को यातना देने के लिए हिंदुओं के उपनिवेशवादी समाज-व्यवस्था की प्रयोगशाला' माना था। हालांकि गाँव भी अब पुराने अर्थ वाला गाँव नही रह गया है। उत्पादन प्रकिया से लेकर व्यवस्था में हिस्सेदारी तक के सारे पुराने प्रतिमान बदलते जा रहे हैं। एक जाति द्वारा पुराने ढंग से दबाव डालकर दूसरी जाति पर सत्तासीन होना अथवा उससे मनमाना काम लेना भी संभव नहीं रह गया है। फिर भी आए दिन गोहाना-कांड एवं मिर्चपुर जैसी घटनाएँ होती रहती है। धर्म और परंपरा के ही नहीं, आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता के दायरे में भी दलित समस्या का समाधान सहर्ष स्वीकृत नहीं हो पा रहा है। इसलिए गैर दलित विचारकों के तर्क कि 'अछूत का अनुभव तथा जाति-व्यवस्था का कलंक अलग कर दें तो सब पीड़ितों का जीवन एक सरीखा है' को दलित विचारक मानने से साफ इंकार करते हैं।

कलात्मकता के पारंपरिक प्रतिमान और दलित साहित्य के प्रतिमान

कलात्मक दृष्टि से भी दलित साहित्य के संदर्भ में यह बात लगातार कही जाती है कि यह मुख्यधारा के साहित्य की सौंदर्यशास्त्रीय कसौटियों का पालन नहीं करता है। इसलिए यह अर्थहीन एवं भाषाई नकारात्मकता से भरा पूरा है। परंतु दलित साहित्य न तो दरबारी-मनोरंजन के निमित्त लिखा गया साहित्य है न ही भक्त और भगवान के बीच के आध्यात्मिक रहस्यों को सुलझाने की कोशिश मात्र। यह शोषण और अत्याचार के बीच हताश जीवन जीने वाले दलितों

को लड़ना सिखाता है, सिर पर मैला एवं इन जैसी चीजें ढ़ोने वालों को उसक अधिकार बतलाता है तथा सभी दलित-शोषित-उत्पीड़ित मनुष्यों को धर्म एवं जड़ परंपराओं के जकड़न से बाहर निकालकर संघर्ष करने की प्रेरणा देता है। एन० सिंह लिखते हैं "दलित साहित्य का शब्द सौंदर्य प्रहार में है, सम्मोहन में नहीं। वह समाज और साहित्य में शताब्दियों से चली आ रही सड़ी-गली परंपराओं पर बेदर्दी से चोट करता है।..... उसके लिए जिस शाब्दिक प्रहार क्षमता की आवश्यकता है, वह उसमें है, और यही दलित साहित्य का शिल्प-सौंदर्य है।'

दलित साहित्यकारों का मानना है कि उनके साहित्य की समीक्षा मुख्यधारा के साहित्यिक मानदंडों के बजाय समाजशास्त्रीय दृष्टि से होना चाहिए। फिर समाजशास्त्रीय समीक्षा में सौंदर्य, रसानुभूति एवं पुरूषार्थ चतुष्ट्य की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों की चर्चा अधिक होना लाजिमी है। वैसे भी जो साहित्य जागृति के लिए लिखा जा रहा हो उससे परिवर्तन की जगह आनंद की कामना सर्वथा अनुचित है। जयप्रकाश कर्दम ने लिखा है- "भूखा पेट सौंदर्य की गहराईयों में नहीं उतर सकता। अपमान और उत्पीड़न के एहसास के साथ जीने वाले व्यक्ति को रस की अनुभूति नहीं हो सकती। रसों का आस्वाद उसे ही हो सकता है जिसका पेट भरा, मस्तिष्क किसी भी तरह की चिंताओं से रहित हो, पीड़ित और पेट की क्षुधा से त्रस्त व्यक्ति को नहीं।" इसलिए दलित लेखक एक ओर जहाँ पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र के नकार की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर मनुष्य के अस्तित्व को सत्य, उसकी स्वतंत्रता को शिवम् तथा मनुष्यता को सुंदरम् घोषित कर सौंदर्य प्रतिमानों के नए तर्क गढ़ते हैं।

यहाँ मुझें एक बात खटकती है कि जिस प्रकार जड़ शास्त्रवादी एवं परंपराग्रस्त व्यक्ति विकास की हर उपलब्धि को अपनी आदिम काल के ही समय में खोज लेता है (मसलन हेलिकॉप्टर के बदले पुष्पक विमान एवं इन जसी चीजें) उसी प्रकार दलित चिंतक भी अपनी बात को सारपूर्ण बनाने के लिए अतीत के ही मूल्यों का व्यवहार करते हैं। अंबेडरवादी चिंतन को आधार बनाकर जिस दलित साहित्य का निर्माण 80 के दशक से होता है उसी समय मुख्यधारा के साहित्यिक मूल्य भी रसानुभूति एवं सौंदर्य खोज से बहुत आगे आ चुका था। फिर पुराने युग के मूल्यों से तुलना कहीं-न-कहीं बौद्धिक वाग्विलास एवं उधेड़बुन के बियावान में ले जाता है।

कुल मिलाकर देखें तो दलित-चिंतन एवं इसके वैचारिक सरोकार साहित्यिक या राजनैतिक आंदोलन मात्र न होकर सामाजिक चिंतन बोध के लगभग सभी आयामों का अभिन्न हिस्सा बन चुका है। हालांकि जाति-प्रथा एवं वर्ण-व्यवस्था के विरोध को लेकर शुरू किया गया यह आंदोलन आज खुद भी उसी में उलझा हुआ है। इसलिए दलित-विमर्श एवं इससे उपजी रचनाशीलता पर एकरसता होने से लेकर प्रतिक्रियावादी एवं नकारात्मक मूल्यों को जबरदस्ती थोपने तक के आरोप लगते रहे हैं। इस पर यह भी आरोप लगाया गया है कि जो दलित ब्राह्मण के बेटे को जन्मना ब्राह्मण कहने का विरोध करते रहे हैं वही स्वानुभूति एवं इन जैसे विचारों के बहाने नवब्राह्मणवाद को खुद अर्घ्य दे रहे हैं। प्रत्येक विचार एवं उसके प्रति विचार का अपना तर्क एवं उद्देश्य होता है। परंतु जहाँ तक नकार और विद्रोह का सवाल है तो यह नकार और विद्रोह जैसा कि शरण कुमार लिंबाले ने स्पष्ट किया है "दलितों की वेदना के गर्भ से पैदा हुआ है। यह नकार अथवा विद्रोह अपने ऊपर लादो गई अमानवीय व्यवस्था के विरूद्ध है।... यह विषम-व्यवस्था को नकारते हुए समता, स्वतंत्रता, न्याय और बंधुत्व की मांग करने वाली सोच है।" इसलिए परिवर्तन और प्रतिरोध की मानसिकता से निर्मित दलित-विमर्श संविधान में उत्पीड़न के हजारों वर्षों की समाप्ति हेतु प्रदत्त प्रावधान एवं उनके पालन में उठने वाले स्वरों एवं जनांदोलनों से शक्ति ग्रहण करता है। सामाजिक-आर्थिक एवं धार्मिक जीवन की विकृतियों के विरूद्ध विशेषाधिकारों की व्यवस्था पर जबरदस्त प्रहार कर वंचित मनुष्यता के विरूद्ध चेतना को ही

अपना ध्येय मानता है। इसलिए 'मानवता क इस लोकतांत्रिक पाठ' पर पूर्वाग्रह मुक्त होकर गहराई से विचार करने की जरूरत है।

संदर्भ

1- कँवल भारती दलित विमर्श की भूमिका पृ० 17

2- शरण कुमार लिंबाले दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 38

3 कँवल भारती दलित साहित्य की अवधारणा, पृ० 15

4 रमेश कुमार दलित चिंतन के सरोकार, पृ० 21-22

5- ओमप्रकाश वाल्मीकि दालित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 14

6 -सुमित मुखर्जी आधुनिक भारत (1885-1947)-हरिजन आंदोलन, प्रथम छात्र संस्करण, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

7 काँचा इलैया मैं हिंदू क्यों नहीं हूँ, पृ० गपप

8 शरण कुमार लिंबाले दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 118

9 - ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 29

10 धर्मवीर दलित चिंतन का विकास, पृ० 21

11 ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० (भूमिका से)

12 कँवल भारती दलित साहित्य की अवधारणा, पृ० 15

13 विश्वनाथ त्रिपाठीकल के लिए (त्रैमासिक) दिसम्बर 1998, पृ० 15

14 राजेन्द्र यादव कल के लिए (त्रैमासिक) दिसम्बर 1998, पृ० 61

15 साभार, हरदान हर्ष डॉ० भीमराव अंबेडकर जीवन और दर्शन, पृ० 16

16 कँवल भारती दलित विमर्श की भूमिका, पृ० 68

17 - शरण कुमार लिंबाले दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 69

18 जयप्रकाश कर्दम इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन, पृ० 54

19 उत्तर प्रदेश पत्रिका (दलित साहित्य विशेषांक) सितम्बर अक्टूबर 2002, पृ० 175

20 कँवल भारती दलित साहित्य की अवधारणा, पृ० 37

21 धर्मवीर दलित चिंतन का विकास, पृ० 97

22 जयप्रकाश कर्दम इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन, पृ० 35

23 काँचा इलैया मैं हिंदू क्यो नहीं हूँ, पृ० 104

24 ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ० 48

25 जयप्रकाश कर्दम इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन पृ० 12-13

26 शरण कुमार लिंबाले दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र पृ० 39-4